

असगर वजाहत : अपने समय-संदर्भों का अप्सानानिगार

डॉ. धनंजय कुमार साव

कला और साहित्य के प्रति समर्पित कलाकार अपने समय - संदर्भों का जीवंत गवाह होता है | ऐसा कलाकार ही अतीत, वर्तमान और भविष्य के अविच्छिन्न प्रवाह की खरी समझ रखते हुए उसे शब्दबद्ध कर अपनी कला का प्रमाण देता है | दूसरे शब्दों में कहा जाय तो वह अपनी साहित्यिक, सामाजिक अर्थवत्ता को प्रमाणित करता है | वास्तविकता यह है कि साहित्य अपने समय- समाज की हलचलों से निस्पंद नहीं रहता है | इस संदर्भ में प्रेमचंद की निम्न टिप्पणी अनायास ही स्मरण हो आती है –“ऐतिहासिक सत्य चुप -चुप करने से दब नहीं सकता | साहित्य अपने समय का इतिहास होता है, इतिहास से कहीं अधिक सत्य।”¹(संपादकीय, ‘जागरण’, 8 जनवरी, 1934, ‘विविध प्रसंग’ भाग -2 में संकलित) स्पष्ट है कि साहित्य की अपने समय –समाज के प्रति एक गुरुतर भूमिका होती है | हिन्दी साहित्य की यह खुशनसीबी है कि यहाँ ऐसे प्रतिबद्ध साहित्यकारों की एक लंबी परंपरा है, जो साहित्य को समय- समाज के ऐतिहासिक साक्ष्यों का संवाहक बनाने की भूमिका में सतत संलग्न रहे हैं | कबीर, प्रेमचंद, नागार्जुन, मुक्तिबोध, राही मासूम रजा ऐसे कई नाम लिए जा सकते हैं | असगर वजाहत इसी परंपरा की मजबूत कड़ी हैं |

असगर वजाहत की कहानियों से गुजरने के पहले उनके कथा –लेखन के रूझान की तफ़्तीश जरूरी है | उल्लेखनीय है कि असगर वजाहत अपने साहित्यिक जीवन के लगभग तीस वर्ष व्यतीत होने के बाद अपने कहानी -लेखन के प्रयोजन और मायने समझते हैं | जिसे उन्होंने अपने लेख ‘कहानी लिखने के कारण’ में दर्ज किया है | असगर वजाहत स्वयं लिखते हैं –“पहली तो यह कि अपने परिवेश की विसंगतियों पर बहुत गुस्सा आता है जिसे दबाया नहीं जा सकता है ... गवाही रहे कि मैंने या मेरी पीढ़ी ने क्या देखा और भोगा ... पढ़कर किसी की संवेदना को हल्की –सी चोट पहुंचे... दिल की भड़ास निकल जाय और रात कुछ चैन की नींद आए |”²(असगर वजाहत, हिन्दी गद्यकोश से साभार) उपर्युक्त कथन को ध्यान से पढ़ा जाय तो कई बातें स्पष्ट होती हैं | पहली, एक साहित्यकार या कहानीकार की वह वाबस्तगी जो उसके समय - समाज के साथ होती है | दूसरी, एक कहानीकार की वह दिलचस्पी या ज़िद, जो उसे शब्दों के मार्फत समय - समाज के संवेदनात्मक इतिहास गढ़ने की ओर प्रवृत्त

करती है | तीसरी, कहानी रचे जाने की प्रेरणा बनी वह प्रत्येक घटना (लेखक के अनुसार 'वाक्या' अपने विशेष अर्थों में) जिसका संवेदनात्मक दबाव प्रत्येक कहानीकार महसूस करता है और जिसे शब्द बद्ध कर एक कहानीकार अपनी साहित्यिक-सामाजिक अर्थवत्ता का कलात्मक सुख पाता है | कहना न होगा कि असगर वजाहत का कहानीकार इन्हीं अर्थों में अपने समय- समाज के समक्ष अपनी मौजूदगी को प्रमाणित करता हुआ अपने समय - समाज की चुनौतियों का प्रतिपक्ष रचता है | दरअसल, यही उन्हें एक समकालीन कथाकार का दर्जा देता है | पर, यहाँ यह सवाल विचारणीय है कि क्या उनकी कहानियाँ इन बातों की गवाह बनती हैं? अंग्रेजी में प्रचलित इस उक्ति से हम भली- भांति परिचित हैं कि "कथाकार पर विश्वास न करो, उसकी कथा पर विश्वास करो" (डू नाट ट्रस्ट द नारेलिस्ट ट्रस्ट द टेल) यहाँ, उनकी कहानियों से गुजर कर ही इस बात की समीचीनता की परख की जा सकती है | अस्तु, उनकी कहानियों की पड़ताल जरूरी है |

उनकी कहानियों से गुजरने के पहले इस दिलचस्प बात पर भी गौर कर लेना जरूरी लगता है कि वे अपने को एक कहानीकार या अप्सानानिगार कहने की बजाय वाक्यानिगार कहने की छूट क्यों लेते हैं, इससे उनके क्या अभिप्राय हैं ? अपनी एक कहानी में वे इस बात की चर्चा करते हैं कि जिस देश और समाज में निर्मम घटनाओं का एक सिलसिला लगा रहता है, वहाँ कहानी के पारंपरिक ढब को बनाये रखते हुए कहानियाँ दर कहानियाँ लिखते जाने का कोई औचित्य नहीं है। इस कारण भी वे कहानी लिखने के बजाय 'वाक्या' लिखने का प्रस्ताव रखते हैं | उर्दू के इस शब्द को विशेष अर्थ प्रदान करते हुए वे इसका अर्थ एक ऐसी सच्ची घटना से करते हैं, जो स्वयं में नाटकीय, मार्मिक और मनोरंजक हो | कहने का अभिप्राय यह है कि असगर वजाहत अपनी कहानियों और उसके ढब को पारंपरिकता के पार ले जाने, उसे उस रूप में समझे जाने की वकालत करते हैं | यही कारण है कि उनकी कहानियाँ इस विधा के पारंपरिक ढब को एक सिरे से अपनाए के बजाय एक नए तेवर लिए दिखती हैं | दूसरे अर्थों में समझा जाय तो असगर वजाहत का कहानीकार अपनी कहानियों को निबंध, नाटक, व्यंग्य, संस्मरण आदि विधाओं का सम्मिश्रण देते हुए उसे एक अभिनव रूप प्रदान करता है | उल्लेखनीय है कि असगर वजाहत के कहानीकार का जन्म सातवें दशक में ही हो जाता है। बक्रौल कहानीकार, उनकी पहली कहानी उर्दू लिपि में होती है, जो 'शहरे तमन्ना' अखबार में 'वह बिक गयी' शीर्षक से छपती है, जब वे अपनी पढ़ाई पूरी कर रहे होते हैं | इतना ही नहीं, इसी दशक में 'धर्मयुग' जैसी उल्लेखनीय पत्रिका में सन् 1968 के आसपास उनकी कहानी 'उनके हिस्से का आकाश' भी छपती है | बावजूद इसके, वे आठवें दशक में सन् 1971 के आसपास छपी कहानी 'केक' को अपनी

पहली उल्लेखनीय कहानी मानते हैं। (बक्रौल असगर वजाहत, आधी बानी, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, 'कहानी की दोपहर') कहना न होगा कि उनकी कहानियों का जो सिलसिला जो सन् 1971 से शुरू होता है वह अपनी ही रौ में चलता है। समय के विविध अंतरालों में लिखी उनकी ये कहानियाँ अब उनके 'दिल्ली पहुँचना है, 'स्वीमिंग पूल', 'सब कहाँ कुछ', 'मैं हिन्दू हूँ' 'आधी बानी' आदि संग्रहों में संगृहीत हैं। यहाँ उनकी कुछेक कहानियों के जिक्र और उसकी पड़ताल के जरिये उनके उस अप्रसानानिगार या फिर कहेँ वाक्यानिगार रूप को समझने का प्रयास किया जा सकता है, जो अपने समय -संदर्भों को जीता हुआ उसे शब्द बद्ध करने में ही साहित्य-संवेदना का औचित्य देखता और समझता है।

इस संदर्भ में सर्वप्रथम उनकी कहानी 'तमाशे में डूबा हुआ देश' का जिक्र करना वाजिब लगता है। आलोच्य कहानी कहानीकार के समय -समाज के सूक्ष्म पर्यवेक्षण को दर्ज करती है। भारत जैसे बड़े लोकतान्त्रिक देश में लोकतन्त्र की जो वास्तविक तस्वीर है, उसका साक्ष्य आलोच्य कहानी पेश करती है। हमारे यहाँ फिलवक्त लोकतन्त्र से जुड़ी संवेदना को हाशिये पे धकेले जाना एक जाना पहचाना मुहावरा है, जिसका गवाह 'तमाशे में डूबा हुआ देश' कहानी पेश करती है। कहना न होगा कि लोकतन्त्र मजबूत होता है एक -दूसरे पे विश्वास करने से, न कि इस विश्वास भावना को धता बताने से। यह हमारे लोकतन्त्र की विडम्बना है कि हर कोई दूसरे को अकेला कर सिर्फ अपनी सुध लेने में फिक्रमंद है या फिर अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने की होड़ में लगा हुआ है। आलोच्य कहानी में पम्मी शर्मा और कथक का जो प्रसंग है, वह इस बाबत देखने लायक है। लोकतन्त्र की सांप्रतिक दुखद तस्वीर यह है कि यहाँ हर कोई सिर्फ वायदे करना जानता है, खासकर देशसेवा (?) करनेवाले हमारे नेतागण। इस कारण ही पम्मी शर्मा कथक से यह कहता है - ' - 'खोजने दो सालों को, इस देश में यही हो रहा है। किसी न किसी को कोई न कोई खोज रहा है और किसी को कोई नहीं मिलता। तुम आराम से अपने लिखने पढ़ने के काम में लग जाओ।'3(हिन्दी समय. कॉम से साभार) स्पष्ट है कि कहानीकार ने यहाँ जो व्यंग्य किया है, वह हमारे देश के साधारण जन की विसंगतिपूर्ण स्थिति को दर्शाने के प्रयोजन से है। आलोच्य कहानी के प्रारम्भ और उसके समूचे निर्वाह को देखा जाय तो कहानी उस पारंपरिक रूप में नहीं दिखाई देती है, जैसा कि वह साधारणतया होती है। आलोच्य कहानी के प्रारम्भ में ही एक 'वाक्ये' को - " हमारे ही देश के एक शहर में एक आदमी गायब हो गया और दो कुत्ते के पिल्ले गायब हो गए"4 (वही.) - रखते हुए कहानीकार अपने समय- समाज की नब्ज टटोलता हुआ समय के मध्य अपनी उपस्थिति की सार्थकता को प्रमाणित करता हुआ अपनी समकालीनता को

दर्ज करता है | कहना न होगा कि एक रचनाकार की अपनी समकालीनता दर्ज करने का आशय अपने समय-समाज की चुनौतियों, प्रश्नों और विसंगतियों के प्रतिपक्ष रचने का ही संदर्भ है | आलोच्य कहानी में कथा के प्रवाह को एक गल्प की शकल देते हुए तथा उसे हास –परिहास और व्यंग्य –विनोद की शैली में ढाल कर असगर वजाहत अपने अभिनव कहानीकार के रौशन पक्ष को हमारे समक्ष रखते हैं | यहाँ इस सत्य को समझने में तनिक देर नहीं लगती है कि कहानीकार आलोच्य कहानी में एक आम आदमी के साथ कुत्ते के दो पिल्ले की गुमशुदगी के 'वाक्ये' की आड़ में हमारे समय –समाज की सीवन को उधेरता है | यह एक सच्चाई है कि हम एक ऐसे समय-समाज का हिस्सा हैं, जहाँ आम आदमी का न जीना मायने रखता है, न उसका मरना | लोकतन्त्र को मजबूत करनेवाली संस्थाएँ, सत्ता-सरकार हो या फिर पुलिस-मीडिया संस्थान पैसे और पहुँच के पीछे भागने को अभिशप्त हैं | आलोच्य कहानी इसी सच की नाटकीय अभिव्यंजना करती है | हमारी सरकारों पर अमेरिकीकरण का जुनून इस कदर व्याप्त है कि यह अपनी छोटी सी छोटी समस्या के लिए विकसित देशों की ओर, खास कर अमेरिका की ओर ताकती हैं | जबकि, इन राष्ट्रों के लिए हमारा देश पैसा उगाहने वाले एक बड़े बाज़ार से कुछ ज्यादा नहीं है हमारी सत्ता –सरकारें इस सत्य से अनजान रहती हैं, या बने रहने का ढोंग करती हैं | आलोच्य कहानी में कुत्ते के पिल्ले के खोजने में अमेरिका से ली गई मदद का प्रकरण इस बाबत ही है, जो हमारी राष्ट्रीय नीतियों के अंधेपन की कड़ी आलोचना करती है | यहाँ एक कथाकार की उस चिंता को भी समझा जा सकता है जो इन अंध नीतियों के कारण हमारे राष्ट्र की संप्रभुता पर उठते सवालियों के प्रति होती हैं | कहानी की इन पंक्तियों पर गौर फरमाने से सारा मामला स्पष्ट हो जाता है –“ हिंद महासागर में अमेरिकी बेड़ों को भारत की तरफ कूच करने का आदेश दे दिया गया है। और यह भी कहा गया कि भारत को चाहिए कि सेनाओं के पहुँचने से पहले कोकाकोला और पेप्सीकोला का पर्याप्त भंडार कर ले। चूँकि यह आदेश था इसलिए इतिजाम पूरा हो गया। बड़े बड़े अमेरिकी बाजार खुल गए जहाँ सुई से ले कर हवाई जहाज तक उपलब्ध था।“5(वही) अजीब विडम्बना है हमारे लोकतन्त्र के पहरे की (पुलिस – तंत्र) | इसके लिए आम आदमी की गुमशुदगी न कोई समस्या है, न उसकी मौत | वे रोज मरते हैं, तभी तो वे ऐसा कहते हैं – “ मौतें तो इस देश में ऐसे आती हैं जैसे दूसरे देशों में बहार आती है।“6(वही,) कहना न होगा कि मौत हमारे समय - समाज का बेहद परिचित और निरर्थक शब्द बन गया है | प्राकृतिक आपदाओं से लेकर मनुज निर्मित बलाओं से, मौतें तो होती ही रहती हैं, अक्सर ! आलोच्य कहानी में पुलिस उस औरत को यही पहाड़ा पढ़ाते हैं, और उससे चलता करने का छद्म रचते हैं, जब वह अपने पति की गुमशुदगी की

खोज- खबर लेने थाने पहुँचती है | आम आदमी का गुम होना एक आम बात है, कोई मुद्दा नहीं, जबकि सामर्थ्यवान के कुत्ते का गुम होना एक असाधारण और नाटकीय बात, एक गंभीर मामला | प्रिंट या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए आम आदमी का गुम होना न कोई खबर है न उसकी लाश उसकी संवेदना को स्पंदित करनेवाला कोई पहलू | यह तो अपने उस समुदाय के लिए पलक पावड़े बिछाये रहता है, जो इसे विज्ञापन देता है या फिर वह जो इस विज्ञापन का हिस्सा बनता हुआ इसके व्यवसायिक हित साधता है | आलोच्य कहानी हमारे समय –समाज की इस विडम्बना पर गहरी चिंता जाहिर करती है | यह साफ दर्शाती है कि इन मीडिया संस्थानों के लिए, भारी मशक्कत के बाद विदेशी सेना के संयुक्त तत्वावधान में एक सामर्थ्यवान के कुत्ते को ढूँढ निकालना एक कारनामा है, जबकि एक आदमी की सिर कटी लाश का मिलना एक बौना सच | यही नहीं, उस लाश के चतुर्दिक एक औरत का अपने बच्चों के साथ सामूहिक विलाप इनकी संवेदना को स्पंदित करने वाला कोई मामला नहीं है | वाजिब भी है कि यह न तो उसके किसी प्रयोजन को सिद्ध करता है, न उसके व्यावसायिक हित साधता है | आलोच्य कहानी यह स्पष्ट संकेत करती है कि हमारा मीडिया संस्थान जो लोकतन्त्र को मजबूत करने के प्रयोजन से है, जिसका अस्तित्व लोकतन्त्र को सुंदर सार्थक करने के मिशन कार्य से है, उसे लोक (आम आदमी) की कोई फिक्र नहीं | उसे विज्ञापन चाहिए ! सिर्फ विज्ञापन! कहना न होगा कि हास –परिहास और व्यंग्य –विनोद के कलेवर में समूची कथा को एक गल्प की शकल देने वाली कला का रौशन पक्ष तब उजागर होता है, जब आलोच्य कहानी के आखिर की ये पंक्तियाँ हमारी छीज रही संवेदना को एक धक्का देती हैं; अपनी मार्मिक अभिव्यंजना में हमें संतप्त करती हैं- “उस औरत ने सिरकटी लाश पहचान ली थी | यह उसका पति ही था, औरत रो रही थी पर मौज, मस्ती, आनंद, उल्लास, जश्न, गीत, संगीत के माहौल में उसकी आवाज़ कोई नहीं सुन रहा था | उसके बच्चे अपने फटे पुराने कपड़ों में सहमे, सिकुड़े, मुँह खोले मंच पर होनेवाले तमाशों में डूबे हुए थे | वे न अपनी माँ को देख रहे थे, न बाप की सिरकटी लाश को |” (वही.)

इसी क्रम में असगर वजाहत की कहानी ‘शाह आलम कैप की रूहें’ की चर्चा भी समीचीन लगती है | आलोच्य कहानी ‘शाह आलम कैप की रूहें’ में भी असगर वजाहत का कथाकार अपने समय –समाज के ज्वलंत सवाल, ‘सांप्रदायिकता’ से मुठभेड़ करता हुआ व्यक्ति –समाज की कमजोर कड़ियों और कमियों पर उंगली रखता हुआ हमें संवेदित करने का भरसक प्रयास करता है | कहना न होगा कि सांप्रदायिकता का प्रश्न इक्कीसवीं सदी में भी अपनी उपस्थिति से हमें लगातार आक्रांत किए हुए है तथा यह हमारी संवेदना को अवशून्य करने का प्रयास कर

रहा है | ज्ञान, विज्ञान, तकनीक, सूचना-प्रौद्योगिकी से समुन्नत होते इक्कीसवीं सदी के मुक्त माहौल में भी हम सांप्रदायिकता जैसे मध्यकालीन सोच से मुक्त नहीं हुए हैं | हालांकि, यह सच है कि इस सदी को मध्यकालीन मानसिकता से निर्लिप्ति के रूप में देखने की कवायद बार – बार होती रही है, पर अब भी यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या हम सचमुच अपनी मध्यकालीन मानसिकता को पीछे छोड़ आए हैं ? अगर हम हाँ कहते हैं, तो इस यक्ष प्रश्न से कैसे विमुख हुआ जा सकता है; इससे कैसे किनारेकशी की जा सकती कि इस सदी का प्रारम्भ ही सांप्रदायिकता के जहर से विषाक्त हो चुका है | गुजरात गोधरा से होता हुआ सांप्रदायिकता का जो कारवां मुजफ्फरनगर तक चला है, और आगे भी इस संदर्भ में सुनिश्चित तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता है कि 'कारवां' रुक गया है | प्रेमचंद ने बहुत पहले आगाह किया था कि सांप्रदायिकता अपने वास्तविक रूप में सामने नहीं आती है | यह धर्म, संस्कृति और राष्ट्र की मिथ्या चेतना का जाल रचती है | यह उसकी आड़ में आम लोगों को उसके बुनियादी सवाल, जीने के अधिकार या प्राण-रक्षा के प्रश्न से गुमराह कर देती है | कहने का अभिप्राय यह है कि सांप्रदायिकता अपने मूल रूप में धर्म, राष्ट्र और संस्कृति की विकृत चेतना होती है | हमारी साहित्य-संवेदना ने इस सच को बखूबी समझा है | समाज में अनवरत रिस रही इस मिथ्या चेतना को साहित्यकारों की कई पीढ़ियों ने समय-समय पर बेपर्दा करने की पुरजोर कोशिश की है | कबीर, प्रेमचंद से लेकर राही मासूम रजा, असगर वजाहत की पीढ़ी ने साहित्यिक संवेदना का पक्ष रखते हुए सांप्रदायिकता का प्रतिपक्ष रचने का गुरुतर कार्य किया है | असगर वजाहत की कहानी 'शाह आलम कैम्प की रूहें' इसी प्रतिपक्ष को दर्ज करती है | शाह आलम का कैम्प जो इस कहानी में चित्रित है, दंगों में पीड़ित जनों का एक राहत शिविर है | पर इसकी खास बात यह है कि जो दंगों में मारे जा चुके हैं, उनकी रूहें भी इस शिविर में रात को आती हैं | शिविर में रह रहे अपने परिजनों से मिलने की खातिर, उनका हाल-चाल, उनकी खबर-कुशलता का जायजा लेने | आलोच्य कहानी में भी असगर वजाहत का वह कथाकार दिखाई देता है जो अपनी कथा को बुनने, उसे व्यक्त करने में कथा-शिल्प के परंपरागत ढब से बाहर जाने की छुट लेता है | शाह आलम कैम्प में रूहों के रात में आने के वाक्य को इसी प्रयोजन से रखा गया है | आलोच्य कहानी की कथा, उसके प्रवाह तथा उसके समूचे निर्वाह में जो फैंटसी तत्व का अंतर्गुफन है, उसका सशक्त आधार हमारे समय-समाज का यथार्थ और उसका ज्वलंत संदर्भ है | आलोच्य कहानी में असगर वजाहत का कथाकार इस कथात्मक फैंटसी के सहारे अपने समय-समाज के ज्वलंत संदर्भ, उससे जुड़े तमाम प्रश्न, उससे संपृक्त संवेदना को व्यक्त करने की कहानी-कला प्रस्तुत करता है | कहना न होगा कि दो संप्रदायों के बीच दंगों का होना सांप्रदायिक घटनाओं और

उसकी कार्यावली की सहज निष्पत्ति है। दंगों और उससे जुड़ी वारदातें हमारे सामाजिक जीवन को बुरी तरह प्रभावित करती हैं। यह हमारे सामाजिक जीवन के मुख्य पहलू- घर, परिवार, व्यक्ति, समाज और संबंध की स्वाभाविकता को ही लील लेती है, जिसे आलोच्य कहानी बखूबी दिखलाने का प्रयास करती है। प्रस्तुत कहानी में सिराज और उसकी अम्मा की रूह का जो प्रसंग है, वह मानवीय संवेदना को झंकृत करने वाला है। इस प्रसंग में ही हमें यह देखने को मिलता है कि घर जो अमूमन सबके लिए एक सुरक्षा-शुकुन का स्थल होता है, वही घर दंगों की भीषण घटनाओं में अपने स्वाभाविक अर्थ को खो देता है। शाह आलम कैम्प का सिराज एक समय अपने जिस घर में सुकून से रह रहा होता है, वह दंगों के दौरान उसी घर में दर्दनाक पलों से गुजरने को बाध्य होता है। दंगों के कारण उसका अपना घर एक डर की चीज बन कर रह जाता है। इस कारण सिराज अपनी अम्मा-रूह के घर चले जाने की बात को टाल देता है, कुछ यह कहकर - “नहीं मैं घर नहीं जाऊंगा ... कभी नहीं ... कभी धुआँ, आग, चीखें, शोर ...।”⁸ (वही.) यही नहीं, आलोच्य कहानी में शाह आलम कैम्प के जो अन्य दृश्य प्रत्यांकित हैं, उसे कथाकार ने मानव चरित्र के घृणित पक्ष को दर्शाने के प्रयोजन से रखा है। यहाँ कथाकार स्पष्ट संकेत करता है कि हमारी सांप्रदायिक सोच हमारे सामाजिक संबंध की ऊष्मा को शुष्क ही नहीं करता बल्कि, लम्हे के एक विशेष पल में हमारी मानवीय-संवेदना को हर लेता है। यही कारण है कि हम इन लम्हों में मानवीयता और मानवीय सभ्यता को कलंकित करने वाले घृणित कार्य को अंजाम देते हैं। कहना न होगा कि नयी सदी का गुजरात-गोधरा का वाक्या, जिसे आलोच्य कहानी अपना आधार बनाती है, वह हमारी सांप्रदायिक सोच-संस्कार के अब तक साबुत बचे रहने, बने रहने की गवाही है। जहाँ हत्या, लूट, मारकाट, आगजनी और बलात्कार के साथ बच्चों को नंगी तलवारों-त्रिशूलों पर उछाला गया, गर्भवती महिला के पेट फाड़ कर बच्चे निकालने जैसे जघन्य कार्य किए गए। और इस तरह हमारी मानवीयता को शर्मशार किया गया। कहना न होगा कि आलोच्य कहानी में दंगों में मारे गए इन्हीं लोगों की रूहों के कैम्प में आने तथा उनके वहाँ के समूचे क्रिया-कलाप के सहारे जो कथात्मक फैंटसी रची गई है, दरअसल वह प्रकारान्तर से एक साहित्यकार की आहत संवेदना की गवाही है। गौर किया जाय तो आलोच्य कहानी में मुख्तार और कथक का जो प्रसंग अंकित है, वह दो संप्रदायों के बीच होने वाली सांप्रदायिक सरलीकृत धारणाओं को खँगालने के प्रयोजन से ही है। मुख्तार के दिलो-दिमाग में यह बात बसी है कि पाकिस्तान एक मजहबी देश है तथा वहाँ मसावात-भाईचारा कायम है। वह यह भी समझता है कि प्रत्येक हिन्दू की नज़र में पाकिस्तान, इस्लाम आदि एक घृणापरक पदबंध है। कहना न होगा कि यह सोच

हमारे समाज में व्याप्त सांप्रदायिक सरलीकृत अवधारणा का ही एक रूप है | जिसे हवा देने या पुख्ता करने का काम फिरकापरस्त गिरोहें करती हैं कभी परोक्ष रूप में रिसालों के माध्यम से तो कभी प्रत्यक्ष उनके बीच जाकर | दरअसल, ये तथाकथित सामाजिक- राजनीतिक –सांस्कृतिक संगठनों की आड़ में मजहबी फायदा लूटने की बदनीयत रखती हैं | आलोच्य कहानी में साफ दर्शाया गया है कि इन सरलीकृत धारणाओं का अतिक्रमण निज संप्रदायों से ऊपर उठ कर ही किया जा सकता है | जहाँ, मनुष्यता के धरातल पर खड़े होकर सभी चीजों को खुली निगाह अर्थात् विवेकपूर्ण रवैये के साथ देखने की जरूरत है | और ऐसा संवादहीनता की स्थिति में कदापि संभव नहीं है | प्रस्तुत कहानी का मुख्तार इस संवाद को बनाने के कारण ही एक नए व्यक्तित्व को पाता है | जरा इस संवाद को देखा जाय जो कथक और मुख्तार के बीच है –“अकेले –दुकेले को मार सकते हैं, आग लगा सकते हैं, औरतों के साथ बलात्कार कर सकते हैं, लेकिन अगर उन्हें पता चल जाय की सामने ऐसे लोग हैं | जो बराबर की ताकत रखते हैं, उनमें हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी, तो दंगाई सिर पर पैर रखकर भाग जाएंगे |”9(वही.) असगर वजाहत हमारे समाज के दो संप्रदायों के बीच पसरी सांप्रदायिक घृणामूलक सरलीकृत धारणा का प्रसंग अपनी अन्य कहानी ‘मैं हिन्दू हूँ’ में भी उठाते हैं, जिसे सैफुद्दीन और मुहल्ले के कुछ लड़कों के प्रकरण में लक्ष्य किया जा सकता है | ज्ञात हो कि इस सच को राही मासूम रजा ने भी अपने उपन्यास ‘टोपी शुक्ला’ में विस्तार दिया है | यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि असगर वजाहत का कथाकार एक तरह से इन प्रसंगों के जरिये सांप्रदायिकता का प्रतिपक्ष रचता है | आलोच्य कहानी स्पष्ट दिखाती है कि सांप्रदायिकता की सरलीकृत धारणा से मुठभेड़ तभी संभव है जब दो अलग संप्रदायों के बीच व्यापक स्तर पर संवाद की स्थितियाँ कायम हों | पर विडम्बना यह भी है कि अक्सर ऐसे संवादों को बनने -बनाने का ढोंग भी रचा जाता है | यह ढोंग कला, साहित्य और संस्कृति के तथाकथित पहरूहों द्वारा रचा जाता है | दोनों संप्रदायों के बीच जाने, उनसे जमीनी स्तर पर जुड़ने और वहाँ अपनी क्रियात्मक भूमिका निभाने के बजाय अक्सर इन पहरूहों द्वारा सांस्कृतिक संवाद- सम्मेलनों में कोरी बयानबाजी होती है | और इसी में अपने कर्तव्य और दायित्व की इति मान ली जाती है, जो हमारे समय - समाज की बड़ी विडम्बना है, जिसे आलोच्य कहानी बखूबी दर्शाती है | आलोच्य कहानी ‘शाह आलम कैम्प की रूहें’ में दंगा पीड़ित मुख्तार, ऐसे ही एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का हिस्सा बनता है, इस आशा - अपेक्षा के साथ कि अब कुछ जमीनी स्तर पर कार्य होगा, जबकि वास्तविकता सिर्फ हवाई किले बनाने तक ही सीमित रहती है | हम साफ लक्ष्य कर सकते हैं कि कहानी के उक्त प्रसंग में मुख्तार की जो बेचैनी है, वह दरअसल असगर वजाहत के कथाकार की

तड़प है | कहना न होगा कि यह बेचैनी यह तड़प अपने समय -संदर्भों से संवेदित होने की ही निष्पत्ति है | कहानी का यह अंश लक्ष्य करने योग्य है –“मैंने उससे पूछा, ‘ये बताओ, तुम्हें इतनी जल्दी, इतनी हड़बड़ी क्यों है? वह मेरे आगे झुका | कुछ बोला नहीं | उसने अपने सिर के बाल हटाये | मेरे सामने लाल- लाल जख्म थे जिससे ताजा खून रिस रहा था |”¹⁰(वही.) यह जख्म मुख्तार को दंगों में मिला था | वह इसके साथ जी रहा था अपने भीतर इस बेचैनी को पाले हुए कि दंगों के जिम्मेवार फिरकापरस्त ताकतों का अब बस मुक्राबला करना है | दोनों संप्रदायों के उन लोगों को एकत्रित कर जो समाज में व्याप्त सांप्रदायिक सरलीकृत धारणाओं को पीछे छोड़ आगे बढ़ चुके हैं | पर मुख्तार को निराशा ही हाथ लगती है, उसे बस इंतज़ार करने को कहा जाता है | असगर वजाहत का कथाकार अपनी इस कहानी में स्पष्ट यह कहना चाहा है कि संस्कृति किसी धर्म –संप्रदाय विशेष की नहीं होती है | अपितु, यह एक जातीयता बोध के साथ जीने-मरने वालों की होती है, जो विभिन्न धर्म –संप्रदाय के हो सकते हैं | जो वर्षों साथ साथ रहते हुए अपनी साझी -संवेदना से समाज, सभ्यता और संस्कृति को सिकत और सुशोभित करते हैं | यही वजह है कि चाहे आलोच्य कहानी ‘शाह आलम कैम्प की रूहें’ हो या ‘मैं हिन्दू हूँ’ कहानी, दोनों में कथाकार ने पुरखों का हवाला देते हुए या मैं हिन्दू हूँ, यह कहकर इस हिन्द में बसने वाले तमाम लोगों की एक जातीयता के होने के सच को बताने का प्रयास किया है | असगर वजाहत का कथाकार यह बखूबी जानता है कि हमारे समाज में अल्पसंख्यकों की जो दयनीय दशा है, उसके लिए सिर्फ इतर धर्म- संप्रदाय के लोग ही जिम्मेवार नहीं हैं, जो अक्सर अपना राजनीतिक लाभ लूटने या अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए इनका भला करने का छद्म रचते हैं | अल्पसंख्यक समुदाय, जैसे मुस्लिम समाज वर्ग, जिसका अधिकांश अब भी गरीबी, अशिक्षा और जहालत में जी रहा है, उसके साथ छल- छद्म करने वाले उसके समाज के लोग भी हैं, जो सिर्फ अपनी सहूलियत देखते हैं | ऐसे लोग सिर्फ अपना आर्थिक लाभ देखते हैं | और इसके लिए वे अपने ही समुदाय को कभी प्राण – भय दिखा कर तो कभी मजहबी तालिम की आड़ में उनका शोषण करते हैं | असगर वजाहत का कथाकार हमारे समय –समाज के इस वीभत्स पक्ष पर भी उंगली रखता है | यहाँ इस संदर्भ में उनकी कहानी ‘सारी तालीमात’ की चर्चा स्वाभाविक है | आलोच्य कहानी में ताले के व्यवसायी हाजी जी अपने समुदाय के लोगों का ही शोषण करते हैं | वे एक मालिक के रूप में अपनी ही कौम के मजदूरों का शोषण करते हैं | जिसकी खातिर वे कभी अपने मजदूरों को दूसरी जगह काम करने पर दंगे में मारे जाने का भय दिखाते हैं, तो कभी उन्हें इस्लाम का हवाला देते हैं – “ अरे भाई, मैं तो यहाँ से वहाँ तक तुम्हारे साथ हूँ | ... वीरेंद्र बाबू के यहाँ क्या करोगे? अगर कभी फसाद हो गया तो मार

ही दिये जाओगे न? इस्लाम की सारी तालीमात को भूल गए हो ? यही तो कौम की खराबी है कि एक मुसलमान किसी दूसरे का फ़ायदा नहीं देख सकता ।”11(वही) असगर वजाहत के कथाकार ने आलोच्य कहानी में हाजी जी की कौमपरसती(!) के कई कारनामे चित्रित किए हैं, जिन्हें देखना दिलचस्प लगता है । इन कारनामों में दंगा करनेवालों को चंदा देना शामिल है, तो ‘अल्लाह अल्लाह कौम पे क्या मुसीबत आई’ का रोना रोते हुए दंगे की पीड़ित रबबन बी जैसी बेबस की मजदूरी के पैसे काटना भी । वे छुप - छुपा के सारे व्यापारिक नियमों को धता बताते हुए कम मजदूरी देते हुए अपने ही समुदाय के कामगारों को धोका देते हैं । कहना न होगा की ये कारनामे हमारे समाज की उस विडम्बना की ओर इशारा करते हैं, जहाँ मानवीय संवेदना पैसे और स्वार्थ के आगे बिलकुल छोटी पड़ जाती है । यहाँ कथाकार का साफ यह कहना है कि ऐसे लोग किसी कौम या समुदाय के नहीं होते हैं, न ही इनकी कोई सद्विच्छा होती है अपने कौम की तरक्की को लेकर । इनका सिर्फ एक ही कौम होता है, पैसा । इसी की कौमपरस्ती करते हैं, ये हाजी जी जैसे लोग ।

पूर्वोक्त है कि असगर वजाहत का कथाकार अपने समय संदर्भों की मार्मिक उपस्थिति दर्ज करता हुआ अपनी समकालीनता जाहिर करता है । इस कारण भी उनके कथाकार को समकालीन विमर्शमूलक स्वरों की गहरी पहचान है । सांप्रतिक विमर्श मूलक स्वरों में स्त्री -विमर्श का स्वर प्रमुख है । स्त्री- विमर्श का मुख्य स्वर स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व को खारिज करने वाले उन सभी दक्कियानूसी मान्यताओं की पुरजोर खिलाफत करता है, जो नैतिकता, परंपरा, धर्म, संस्कृति आदि की दुहाई देते हुए उसे बरकरार रखने की साजिश रचती हैं । कहने की ज़रूरत नहीं है कि हमारा पितृसत्तात्मक समाज सदियों से स्त्री -पुरुष के भेदभाव मूलक अस्तित्व को शह देता आया है । हमारे समाज की यह बड़ी विडम्बना है कि यहाँ स्त्री -पुरुष का भेद भाव मूलक वर्ताव उसके जन्मकाल से ही प्रारम्भ हो जाता है। हमारा पितृसत्तात्मक समाज खुशी मनाने और गमगीन होने के दोहरे मापदंड से परिचालित है । इसी दोहरे आचरण का एक रूप कन्या -भ्रूण-हत्या भी है । हमारा समाज सदियों से पुत्र को वंशबेल तो पुत्रियों को बोझ समझता आया है । कहना न होगा कि पितृसत्तात्मक समाज इस सोच को बनाए रखने में ही अपना पुरुषत्व देखता है । इसी सोच से परिचालित हो यह समाज स्त्रियों का शोषण करता आया है, उसके अधिकारों का सतत हनन किया है, उसके स्वतंत्रता की राह में रोड़े डाले हैं । मौजूदा स्त्री- विमर्श, तथाकथित इसी पुरुषत्वबोध के दर्प को चूर करते हुए सामाजिक संरचना की भेदमूलक दीवार को गिराने को कटिबद्ध है । असगर वजाहत का कथाकार स्त्री -विमर्श के इसी स्वर को आगे बढ़ाता है । उनकी कहानी ‘ड्रेन’ में रहने वाली लड़कियां’ इसका

प्रमाण है | जहाँ, पितृसत्तात्मक समाज के पुरुषत्वबोध के खोंखले पन को उजागर करने का भरसक प्रयास हुआ है | आलोच्य कहानी में भी असगर वजाहत के कथाकार के उस चिर-परिचित अंदाज़ को देखा जा सकता है जहाँ वे अपने समय –समाज के ज्वलंत सच को उजागर करने में फैंटसी कथा -शिल्प का आश्रय लेते हैं | आलोच्य कहानी के प्रारम्भ में ही एक फैंटसी वाक्य को सूत्र वाक्य के रूप में रखकर कथा –प्रवाह को आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया है | इस फैंटसी का आधार ठोस यथार्थ जीवन है | प्रकरानंतर से यह कथाकार द्वारा मानवीय संवेदना के एक अलग फ़लक विस्तृत करने का ही एक क्रम है –“संसार से लड़कियां गायब हो गई हैं | पूरी दुनिया में अब कोई लड़की नहीं है | यह विचित्र स्थिति पैदा कैसे हुई? सुनिए :|”¹²(हंस, मार्च, 2006, पृ.14) आलोच्य कहानी में कथक उक्त सूत्र वाक्य के साथ जिस वाक्ये और उससे जुड़ी कथा को हमसे साझा करता है, वह हमारे ही देश –समाज का ज्वलंत यथार्थ है | सरला नाम की एक औरत हस्तपताल के किसी साधारण वार्ड में एक लड़की को जन्म देती है, जो उसकी तीसरी कन्या है | सरला जो सद्य प्रषूता है, वह अपनी ही जीवंत लड़की को बाथरूम के पाट में डालकर फ्लश के सहारे गटर (‘ड्रेन’) के हवाले कर देती है | अदालत के समक्ष सरला अपने किए गए इस कार्य को जिसे संसार अचंभित होकर देखता है बड़ी सहजता के साथ कबूल करती है | वह यह भी कहती है कि उसने ऐसा अपनी लड़की के सुंदर भविष्य के लिए किया है | संसार के आम चलन के अनुरूप अदालत भी सरला के इस तर्क को हजम नहीं करती है | अदालत सरला के मानसिक दिवालियेपन को ध्यान में रखते हुए उसे मुक्त कर देती है | पर उसकी सही मुक्ति (?) ससुराल में जलकर मरने और उसकी लाश रूपी राख के उसी गटर में पहुँचने पर होती है, जहाँ उसकी लड़की होती है | कहना न होगा कि आलोच्य कहानी में कथाकार असगर वजाहत फैंटसी के शिल्प में कथा का जिस प्रकार गुंफन करते हैं वह हमारी संवेदना के तंतुओं को झिंझोड़ देता है | कहानी में कुछ ऐसे दृश्य मिलते हैं, जो असगर वजाहत को अपने समय संदर्भों का संवेदनात्मक साक्ष्य प्रस्तुत करनेवाला कथाकार सिद्ध करता है | आलोच्य कहानी में प्रत्यांकित कई दृश्यों और प्रसंगों के सहारे असगर वजाहत का कथाकार अपने समय- समाज के पितृसत्तात्मक चेहरे को बेनकाब करता है | आलोच्य कहानी का वह प्रसंग बेहद ही उल्लेखनीय है जब सरला ससुराल के तमाम लोगों की भांति यह नहीं चाहती है कि उसकी लड़की इस संसार में आए | सरला को यह तर्क उसका पितृसत्तात्मक समाज (संसार) ही देता है, जो कन्याओं को बोझ मानता है, जबकि पुत्र को वंशबेल | दस साल के वैवाहिक जीवन में दो कन्याओं को जनने के बाद उसका मृत्यु से भी दर्दनाक जो हश्र होता है, वह संसार के इसी तर्क के कारण होता है, –“दस साल यानि शरीर पर निकले दस बड़े- बड़े फोड़े

| पहली लड़की का जन्म, फिर दूसरी और अब ... तीसरी |”13(वही, पृ.14) कहने की जरूरत नहीं है कि इन फोड़ों(शोषण)का दर्द केवल शारीरिक है, बल्कि यह उसकी मानसिक यंत्रणाओं को भी संकेतित करता है | आलोच्य कहानी का वह दृश्य भी दिलचस्प है जब सरला की बच्ची ‘गटर’ से बाहर निकालकर आती है और अपनी माँ को देखती है | कहना न होगा कि कि इस प्रसंग में लड़की की नज़र से माँ (एक स्त्री)को जिस रूप में दिखाया गया है वह कथाकार द्वारा हमारे पितृसत्तात्मक समाज के घृणित चेहरे को दर्शाने के प्रयोजन से ही है – “बच्ची ने अपनी माँ के शरीर पर ही नहीं, उसकी संवेदनाओं पर गहरे गहरे ज़ख़म देखे | अपमान, हिंसा, उपेक्षा और बर्बरता के निशान देखे |”14(वही,पृ.14) स्पष्ट है कि सरला जैसी स्त्रियाँ(माँ), पितृसत्तात्मक समाज द्वारा रचे इस संसार को स्त्रियों के लिए मुफीद और माकूल नहीं समझती हैं | क्योंकि, यह संसार स्त्रियों पर पहेरे बिठाता है, उसकी स्वच्छंदता - स्वतन्त्रता, इच्छा-अनिच्छा, स्वपन-आकांक्षा का हनन करता है, उसके देह-मस्तिष्क पर अपना कब्ज़ा जमाने में ही अपना पुरुषत्व देखता है | देखा जाय तो इस कहानी में ‘ड्रेन’ का जो रूपक है वह कथाकार की उस सदृच्छा है जो ‘ड्रेन’ के रूप में एक ऐसे संसार की कल्पना करती है, जहां स्त्रियों का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व हो | वहाँ न स्त्रियों की देह, ना उसके मस्तिष्क पर अपना हक़ जमाने वाला पितृसत्तात्मक समाज है न उसके संस्कारों से परिचालित कोई पुरुष-“ ‘ड्रेन’ के अंदर लड़कियां ही लड़कियां हैं | पूरी दुनिया है पर वहाँ सिर्फ लड़कियां हैं | तितलियों की तरह उड़ती, महकती, चिड़ियों की तरह गाती और डाल – डाल पर बैठती | झरने की तरह रास्ता बनाती और किसी वाद्य की तरह संगीत को जन्म देती | सिर्फ लड़कियां ... |”15(वही, पृ.15) कहना न होगा कि आलोच्य कहानी अपने समय -समाज में व्याप्त पितृसत्तामूलक व्यवहारों और सोच-संस्कारों का एक प्रतिपक्ष रचती है | ‘ड्रेन’ की फैंटसी इसी अर्थ में समझी जा सकती है | जिसके माध्यम से एक ऐसे संसार (समाज) के निर्माण की परिकल्पना है, जहाँ स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकसित होने का सुंदर माहौल व्याप्त हो | जहाँ, पितृसत्तात्मक समाज के सोच - संस्कार की संवाहक न कोई दक्कियानूसी मान्यता हो | है, जो परंपरा, मर्यादा, धर्म, नैतिकता की दुहाई देकर स्त्रियों की स्वतन्त्रता को खारिज करती है, जहाँ, न कोई ऐसा पुरुष हो जो स्त्रियों को दबाने उसपर अपना मालिकाना स्थापित करने में ही अपना पुरुषत्व देखता है |

निष्कर्षतः कहा जाय तो असगर वजाहत का कथाकार या अप्सानानिगार अपने समय –समाज में ही जीता है, उसे ही रचता है, और इस रचने के सुख को ही अपनी कला का आनंद समझता है। उनकी कहानियाँ –‘तमाशे में डूबा हुआ देश’, ‘शाहआलम कैप की रूहें,’ ‘सारी तलीमात,’ ‘मैं हिन्दू हूँ’ ‘ड्रेन में रहने वाली लड़कियां’ आदि - अपने समय- समाज का एक संवेदनात्मक साक्ष्य हैं। उनकी कहानियाँ कहानी विधा के पारंपरिक रूप से आगे जाने की छुट लेती हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों पर जड़ होकर विचार करने के बजाय उसके संवेदनात्मक फलक को पहचानने की जरूरत है। निश्चय ही उनकी कहानियों की उक्त संवेदना एक नए ढब या शिल्प में अंतर्गुहित है, जिसके समीप जाने से ही संवेदित हुआ जा सकता है, जिसे करीब जाकर ही जाना –पहचाना जा सकता है।

सारांश (Abstract) : हिन्दी साहित्य की यह खुशानसीबी है कि यहाँ ऐसे प्रतिबद्ध साहित्यकारों की एक लंबी परंपरा है, जो साहित्य को समय- समाज के ऐतिहासिक साक्ष्यों का संवाहक बनाने की भूमिका में सतत संलग्न रहे हैं। असगर वजाहत इसी परंपरा की मजबूत कड़ी हैं। भारत जैसे बड़े लोकतान्त्रिक देश में लोकतन्त्र की जो वास्तविक तस्वीर है, उसका साक्ष्य उनकी कहानी ‘तमाशे में डूबा हुआ देश’ पेश करती है। आलोच्य कहानी यह स्पष्ट संकेत करती है कि हमारा मीडिया संस्थान जो लोकतन्त्र को मजबूत करने के प्रयोजन से है, जिसका अस्तित्व लोकतन्त्र को सुंदर सार्थक करने के मिशन कार्य से है, उसे लोक (आम आदमी) की कोई फिक्र नहीं। उसे विज्ञापन चाहिए! कथाकार अपनी कहानी ‘शाह आलम कैप की रूहें’ में स्पष्ट संकेत करता है कि हमारी सांप्रदायिक सोच हमारे सामाजिक संबंध की ऊष्मा को शुष्क ही नहीं करता बल्कि, लम्हे के एक विशेष पल में हमारी मानवीय –संवेदना को हर लेता है। अल्पसंख्यक समुदाय, जैसे मुस्लिम समाज वर्ग, जिसका अधिकांश अब भी गरीबी, अशिक्षा और जहालत में जी रहा है, उसके साथ छल- छद्म करने वाले उसके समाज के लोग भी हैं, जो सिर्फ अपनी सहूलियत देखते हैं। उनकी कहानी ‘सारी तालीमात’ इस बात का प्रमाण है। उनकी कहानी ‘ड्रेन में रहने वाली लड़कियां’ समकालीन स्त्री विमर्श के स्वर को आगे बढ़ाने वाली कहानी है। इस कहानी में ‘ड्रेन’ का जो रूपक है वह कथाकार की वह सदिच्छा है जो ‘ड्रेन’ के रूप में एक ऐसे संसार की कल्पना करती है, जहां स्त्रियों का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व हो। निष्कर्षतः कहा जाय तो असगर वजाहत का कथाकार या अप्सानानिगार अपने समय –समाज में ही जीता है, उसे ही रचता है, और इस रचने के सुख को ही अपनी कला का आनंद समझता है।

डॉ. धनंजय कुमार साव
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, कालियागंज कॉलेज
पो. कालियागंज, जिला, उत्तर दिनाजपुर, पश्चिम बंगाल
पिन.733129 मो. 09474439158
ईमेल- shawdhananjay10@gmail.com